

शहरयार : जिन्होंने फ़िल्मों में सफल होने के बावजूद फ़िल्मों के लिए नहीं लिखा



शहरयार मानते थे कि अगर फ़िल्मी दुनिया में काम करना है तो ज़मीर तक पर रखना होगा. यह उन जैसे शख्स को गवारा नहीं था

बीसवीं सदी में शायरी के दो खास मुक़ाम आये. एक तरक्की पसंद और दूसरा जदीद. पहली तरह की शायरी वह थी जो सर्वहारा की जुबां है. दूसरी, वह जो इंसानी जड़ों को तलाशती है, आसमान से लेकर ज़मीन तक वे तमाम सवालात करती है जिन्होंने आम इंसान को परेशान कर रखा है. वह जो इंसान के वजूद पर सवाल खड़े करती है. कुंवर अख़लाक़ मोहम्मद ख़ान उर्फ़ शहरयार शायरी की इन दोनों दुनियाओं के नुमाइंदे हैं और शायद अकेले नुमाइंदे हैं.

पहले बात उनके फ़िल्मी सफ़र की कर लेते हैं जो छोटा ही सही पर बेहद मुकम्मल है. याद कीजिये 'उमराव जान' फ़िल्म को. वह नहीं जिसमें जेपी दत्ता ने ऐश्वर्या राय को लेकर फूहड़ता रची थी. यहां बात 1981 में मुज़फ़्फ़र अली द्वारा निर्देशित 'उमराव जान' की बात हो रही है. वह जिसमें खूबसूरत रेखा, जी नहीं, बेहद खूबसूरत रेखा ने तवायफ़ उमराव जान अदा का किरदार निभाया था. इस फ़िल्म की एक-एक बात कमाल की है. निर्देशन, पटकथा, रेखा की अदाकारी, खय्याम का संगीत और एक बात, इसमें शहरयार की शायरी थी.

बेहद कमाल की शायरी की है इसमें उन्होंने. मसलन, एक शेर गौर फरमाइये. 'इक तुम ही नहीं तन्हा, उल्फ़त में मेरी रुसवा, इस शहर में तुम जैसे दीवाने हज़ारों हैं'. यह शेर एक तवायफ़ के अपने हुस्न पर खुद रश्क़ खाते हुए उसकी दिलफरेबी का एलान है. ऐसा ऐलान जो उसके बैठे हुए उसके मुश्ताक़ आशिकों की जान ले लेता है. या फिर 'इस शम्मे-फ़रोज़ां को आंधी से डराते हो, इस शम्मे-फ़रोज़ां के परवाने हज़ारों हैं'. फ़रोज़ां के माने हैं पाक या पवित्र. मानो शहरयार इस शेर के ज़रिये उमराव जान की शख्सियत से रूबरू करा रहे हों कि उसकी भी अपनी हस्ती है और बाकमाल हस्ती है. यह बात इस शेर में क्या खूब निखर कर आती है. वैसे इस फ़िल्म की तकरीबन हर ग़ज़ल का मूड अलहदा है. एक-एक शेर इतना वजनी है, एक-एक ग़ज़ल इतनी भारी है कि बाकी शायरों से उठ भी न सके. ऐसे शायर थे शहरयार.

यह शायद खय्याम की मौसिकी और शहरयार की शायरी का ही जादू था कि इस फ़िल्म में आशा भोंसले

की गायकी लता मंगेशकर की गायकी के नज़दीक दिखी थी. इसके पहले शहरयार और मुज़फ़्फ़र अली 1978 में साथ काम चुके थे. फिल्म थी 'गमन'. 'सीने में जलन, आंखों में तूफ़ान सा क्यूं है. इस शहर में हर शख्स परेशान सा क्यूं है.' इस फिल्म की बेहद मकबूल गज़ल है.

आइए, अब शहरयार के सफर पर नजर डालें. उनकी पैदाइश 16 जून, 1936 को शहर अलोनी, जिला बरेली में हुई थी. 1948 में उनके बड़े भाई का तबादला हुआ तो उनके साथ-साथ वे अलीगढ़ आ गए और वहां सिटी स्कूल में दाखिला ले लिया. नूरानी चेहरे और मज़बूत कद-काठी के कुंवर अखलाक खान को हॉकी का जुनून था. अच्छा खेलता था, टीम का कप्तान भी था. यहां तक उसकी जिंदगी में शायरी का कोई वजूद नहीं था और न ही खानदान में कोई शायरी करता था. वालिद पुलिस महकमे में बतौर इंस्पेक्टर लगे हुए थे और अखलाक खान को वही बनता हुआ देखने के ख्वाहिशमंद थे.

लेकिन तकदीर को कुछ और ही मंज़ूर था. अलीगढ़ में अखलाक की मुलाकात खलीलुल रहमान आजमी से हुई और उसे एक ताउम्र का दोस्त मिल गया जो उसे शायरी तक ले गया. हॉकी की तरह शायरी भी दीवानगी की मानिंद उसके ज़हन में चस्पां हो गयी और वह लिखने लग गया, पर बे-इरादा. उसकी कलम का जादू तमाम हिंदुस्तान और पाकिस्तान के रिसालों में नुमायां हो रहा था. खलीलुल रहमान के मशविरे पर कुंवर अखलाक खान 'शहरयार' बन गया.

बकौल शहरयार कई बरस तक उन्हें इस बात का इल्म ही नहीं हुआ कि आखिर जिंदगी में करना क्या है. खैर, जिंदगी अपनी रफ्तार से बढ़ रही थी. ग्रेजुएट होने के बाद जब उन्होंने सायकॉलॉजी में पोस्ट ग्रेजुएशन किया तो उन्हें अहसास हुआ कि उनसे ग़लती हो गयी है. फिर उन्होंने उर्दू में एमए किया और उसके बाद फ़ैसला किया कि टीचिंग के पेशे से जुड़ना है. 1966 में शहरयार अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में लेक्चरर बन गए.

यह सब तो ठीक था, पर ज़ेहनी उथल-पुथल अब भी खामोश न हो पाई थी. लिहाज़ा, वे फिर कलम उठाकर अपने ज़हन में बनने-बिगड़ने वाली शक्तों, आने-जाने वाले मज़ामी खयालों को हर्फ़ और लफ़्ज़ बनाने लग गए. कोशिश कामयाब हुई और 1965 में 'इस्मे-आज़म' की शक़्ल में पहला मजमुआ (संग्रह) छपा जिसे हाथों-हाथ लिया गया और आप यकीन से कह सकते हैं कि वह जदीद शायरी का पहला मजमुआ था. फ़िराक गोरखपुरी जैसे तमाम बड़े शायरों ने उन्हें खूब दाद दी.

उन्हें न जाने क्यूं उन्हें 'रात', 'नींद', 'ख़्वाब' और उनके पार की दुनिया लुभाती थी. यह बात उनके अशआरों में कई बार बड़ी खूबसूरती से ज़ाहिर होती है.

इस्मे आज़म की शुरुआती नज़्मों में से एक है

'नगमगी आरज़ू की बिखरी है

रात शरमा रही है अपने से

होंठ उम्मीद के फ़ड़कते हैं

पांव हसरत के लड़खड़ाते हैं...

दूर पलकों से आंसूओं के करीब

नींद दामन समेटे बैठी है

ख्वाब ताबीर के शिकस्ता दिल

आज फिर जोड़ने को आए हैं

कमलेश्वर का मानना था कि शहरयार की शायरी को जदीद या तरक्की पसंद खाने में बंद करना ग़लत होगा क्योंकि जदीदियत उनकी जुबां में है, शेर कहने के शऊर में है. तरक्की पसंद शायरी को समझने का कमलेश्वर का तरीका यह है कि मन जब घबरा जाए तो कोई बड़ा सपना देखना, या ख्वाहिश करना तरक्की पसंद है. बात सही है मसलन ये कुछ शेर गौर फरमाइए.

‘बहते दरियाओं में मुझे पानी की कमी देखना है,

उम्र भर यहीं तिश्ना-लबी देखना है

किस तरह रेंगने लगते हैं ये चलते हुए लोग

यारों कल देखोगे या आज अभी देखना है’

किसी एक खाने में कैद न रह पाने की शहरयार की काबिलियत को आप ऐसे भी समझें कि उनका दौर वह दौर था जब समाजवाद धीरे-धीरे टूट रहा था और नया निज़ाम शक्ल ले रहा था. लिहाज़ा, वे तरक्की पसंद शायरों की तरह लेनिन के नाम ढोल पीटते नज़र नहीं आते और नयी दुनिया के बनने की बात से इत्तेफ़ाक रखते हैं. पर दुनिया के बेढंगे होने पर, उसमें होने वालों जुल्मों पर ज़रूर वे टूटकर लिखते हैं. उनके चाहने वाले उन्हें एक हस्सास (संवेदनशील) शायर मानते हैं. मसलन एक ग़ज़ल है उनकी :

‘जिंदगी जैसी तवक्को (इच्छा) थी नहीं, कुछ कम है

हर घड़ी होता है अहसास कहीं कुछ कम है

घर की तामीर (प्लान) तसव्वुर (ख़याल) ही में हो सकती है

अपने नक़शे के मुताबिक यह ज़मीन कुछ कम है

बिछड़े लोगों से मुलाकात कभी फिर होगी

दिल में उम्मीद तो काफी है, यकीन कुछ कम है

अब जिधर देखिए लगता है कि इस दुनिया में

कहीं कुछ ज्यादा है, कहीं कुछ कम है

मशहूर लेखक और उर्दू के मज़बूत हस्ताक्षर गोपीचंद नारंग कहते हैं कि शहरयार शुरुआती जदीदीयत या 'एक्सिस्टेंशियल आन्स्ट' का बेहतरीन उदाहरण हैं. माने, वे अपने वजूद पर ही सवाल खड़ा करने वाले ज्यां पाल सात्र और सिमोन द बोउआर के विचारों से सहमत लगते हैं. पर बाद की जदीदीयत के ख्यालों जैसे बेचारगी या शिकस्तगी से कोई इत्तेफ़ाक नहीं रखते.

किताबों का कारवां एक बार जो शुरू हुआ तो फिर बढ़ता ही गया. 1978 में 'हिज़्र के मौसम' फिर अगले साल 'सातवां दर' और फिर 1985 में उनकी चौथी किताब 'ख़्वाब का दर बंद है' आई. इस किताब ने शहरयार को वह मुक़ाम दिलाया जिसके वे सही मायनों में हक़दार थे. उन्हें 1987 में साहित्य अकादमी सम्मान दिया गया. इसी उन्वान से उनकी ग़ज़ल है

भेरे लिए रात ने आज फ़राहम किया एक नया मर्हला

नींदों से खाली किया, अशकों ने फिर भर दिया

कासा मिरी आंख का और कहा कान में

मैंने हर एक जुर्म से तुमको बरी कर दिया

मैंने सदा के लिए तुमको रिहा कर दिया

जाओ, जिधर चाहो तुम

जागो कि सो जाओ तुम

ख़्वाब का दर बंद है, ख़्वाब का दर बंद है'

रात से रात ठान के बैठे शहरयार ख़्वाबों के रास्ते पार चले जाया करते थे. पर न जाने क्या बात हुई इससे भी उन्होंने राबता तोड़ लिया. शायद कुछ मुश्किलात उनकी ज़ाती जिंदगी में रही. उनका निकाह टूट गया था.

बहुत मुमकिन था कि उमराव जान और गमन की शोहरत के बाद वे मुंबई का रुख कर लेते. पर उन्होंने ऐसा न किया. उन्हें फ़िल्मी दुनिया के रंग-ढंग पसंद नहीं आये. वे मानते थे कि अगर वहां काम करना है, तो ज़मीर ताक पर रखना होगा. उन्हें वहां कोई ज़हीन इंसान नज़र नहीं आता था. ऐसा शायद हो भी क्योंकि 80 के दशक तक साहिर, कैफ़ी और सरदार जाफ़री उस दुनिया से एक तरह से खाना कर दिए गए थे. उस माहौल में उनका गुज़र न हो पाता. एक बात यह भी है, चूंकि उन्होंने कोई समझौता नहीं किया इसलिए उनकी शायरी कहीं भी हलकी पड़ती नज़र नहीं आई. अलीगढ़ की दुनिया उन्हें रास आती थी और वे अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर बनकर रिटायर हो गए.

कुल मिलाकर बात यह है कि शहरयार ऐसे शायर हैं जो दिल का बयान करने से नहीं चूकते, जो मुश्किल

सवालों के हल भी तलाशते हैं. शायद यही कारण है कि आज भी वे हिंदुस्तान और उस पार भी पढ़े जा रहे हैं.

साभार- <https://satyagrah.scroll.in/> से